ईश्वर-मिलाप

वीतराग पूज्यपाद
श्री स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज

ओ३म्

ईश्वर-मिलाप

लेखक—

वीतराग पूज्यपा[द]

श्रद्धेय श्री स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज

प्रकाशक—

आर्य प्रकाशन मण्डल, देहली

आठ आना

मूल्य ॥≈)

प्रकाशक—
जगतराम आर्य

मुद्रक—
सार्वदेशिक प्रेस
पाटोदी हाऊस, दरियागंज
देहली
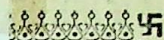
ईश्वर-मिलन

नामगति

शिवम्! शान्तम्!! अद्वैतम्!!!

वेदादिसच्छास्त्रप्रसिद्ध, ऋषि, मुनि-विद्वानों के अनुभवसिद्ध यह "ओम्" परमात्मा का सर्वोत्तम और पवित्र नाम है। उपनिषदों में बड़ी सुन्दर रीति से इसका व्याख्यान है। युक्तियुक्त बात के ग्रहण और अयुक्त के परित्याग का आदेश करने वाले दर्शन ग्रन्थों में इसके द्वारा उपासना का विधान है, और इसके ही स्मरण की आज्ञा वेदों में विद्यमान है, 'ओम्' पद-वाच्य परमात्मा का साक्षात्कार मनुष्य के कल्याण

का निदान है। विचार करने से सर्वत्र इसकी महिमा का गान है। यह सिद्ध हो रहा है।

व्याकरण की रीति से "अ-उ-म्" इन तीनों के मेल से "ओम् शब्द सिद्ध होता है, यह अव्युत्पन्न है। द्वितीय 'अव' धातु से औणादिक 'मन' प्रत्यय के विधान से ओम् बनता है इसको व्युत्पन्न कहते हैं। अतएव 'अव्' धातु के जितने अर्थ हैं उन सबका यह बोधक है। अव् धातु के अर्थ यह हैं-रक्षण गति, कान्ति, प्रीति, तृप्ति, अवगम, प्रवेश, श्रवण, स्वाम्यर्थ, याचनक्रिया, इच्छा, दीप्ति, वाप्ति आलिङ्गन, हिंसा, दान, भाग और वृद्धि यह १६ अर्थ हैं। इनका साधारण विवरण यह है। (१) रक्षण= साक्षात अथवा परम्परा सम्बन्ध से सब का रक्षक। (२) गती के तीन अर्थ हैं 'ज्ञान, गमन और प्राप्ति' ज्ञान=सर्वदा याथात्म्यभाव से सर्व वस्तु का ज्ञाता-गमन=सदा स्थिर स्वभाव होने पर भी संसार चक्र के चलाने का हेतु, प्राप्ति=व्यापक होने से सर्वत्र विद्यमान, सदा सब को प्राप्त। समस्त गति शब्द का अर्थ प्रयत्न भी है, गति=ज्ञान पूर्वक संसार-मर्यादा को चलाने के लिये सर्वत्र प्रयत्न का प्रसारक। (३) कान्ति=इच्छा रहित होने पर भी जीवों की इच्छा पूर्ति का निमित्त, (४) प्रीति=आनन्द स्वरूप

होने से सब की प्राप्ति का स्थान, (५) तृप्ति=स्वयं शान्त स्वरूप होने से सदा भक्तों के लिये हर्षोत्पादक (६) अवगम=मंगल स्वरूप होने से मोक्ष का दाता, (७) प्रवेश=सूक्ष्मतम होने से सब का अन्तरात्मा, (८) श्रवण=श्रोत्र इन्द्रिय का निर्माता होने से स्थूल, सूक्ष्म, गुप्त और प्रकट शब्दों का श्रावक, (९) स्वाम्यर्थ=सबका स्वयं सिद्ध अधिपति होने से स्वामी, (१०) याचना=सर्वैश्वर्य सम्पन्न होने से सदा सबका सहायक और सबकी याचना का स्थान, (११) क्रिया=क्रियमाण जगत् का निर्मापक होने से ज्ञान पूर्वक क्रिया का संचारक। स्थूल प्रयत्न का नाम ही क्रिया है, उपर्युक्त प्रयत्न से ही यह भेद है, (१२) इच्छा=स्वयं इच्छा रहित होने पर भी जीवों के निमित्त शुभ इच्छा का प्रकाशक, (१३) दीप्ति=तेजस्वरूप होने से अविद्या अन्धकार का विनाशक, (१४) वाप्ति=अतीन्द्रिय, अतिसूक्ष्म और अप्रतीयमान होने से भी शुद्धान्तःकरण में स्वस्वरूप प्रदर्शक, (१५) आलिंगन=व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध से सदा सर्वत्र पूर्ण होने से सबका संबन्धी, (१६) हिंसा=यथार्थरूप से वेद मर्यादा को पालन करने वाले पुरुषों के अज्ञान, विपरीतज्ञान, वैर विरोधादि दुःखोत्पादक दोषों का ध्वंसक, (१७) दान=सृष्टि समकाल से ही सुखसाधन

पदार्थों और उनको उपयोग में लाने के निमित्त यथार्थ बोध का दाता, (१८) भाग=प्रलय के समय समस्त संसार का विभाजक अर्थात् दृश्यमान स्थूल जगत् को सूक्ष्म-अदृश्य करने का हेतु, (१९) वृद्धि= उत्पत्ति काल में संसार-रचनार्थ सूक्ष्म प्रकृति को बढ़ाने, स्थूलपथ में लाने और जीवों के कर्म-फल भुगाने का निमित्त।

यदि इन अर्थों का व्याकरण की रीति से विस्तार किया जावे तो यह "ओम्" शब्द अनन्तार्थ का द्योतक हो सकता है।

प्रश्न यदि कोई पुरुष इन अर्थों का स्वामी हो तो उसका नाम भी 'ओम्' हो सकता है या नहीं?

उत्तर—गौण रूप से हो सकता है किन्तु मुख्य-रूप से नहीं। कारण यह है कि किसी भी पुरुष में इन अर्थों का समावेश नहीं हो सकता, क्योंकि वह अल्पज्ञ, एकदेशी न्यूनता सहित और पूर्णता रहित है, अतएव पूर्ण परमात्मा का ही यह मुख्य नाम है। इस 'ओम्' शब्द का विभक्ति से भेद, वचन से व्यत्यय और लिंगसूचक प्रत्यय से परिवर्तन कभी भी नहीं हो सकता है। यह वृद्धि-ह्रासशून्य, सदा एक रस रहने से अव्यय संज्ञक है। विभक्ति से

भेद इस प्रकार होता है—'वृक्ष स्थिर है' यहाँ स्थिति क्रिया का वृक्ष कर्त्ता है। 'वृक्ष को स्पर्श करता है', यहाँ स्पर्श क्रिया का वृक्ष कर्म है। 'वृक्ष पर से चन्द्रमा को देखता है', यहाँ दर्शन क्रिया का वृक्ष कारण है। 'वृक्ष के लिये जल सींचता है', यहाँ सिंचन क्रिया का वृक्ष संप्रदान है। 'वृक्ष से पत्र गिरते हैं', यहाँ पतन क्रिया का वृक्ष अपादान है। 'वृक्ष के फल मधुर हैं', यहाँ फल सम्बन्ध से वृक्ष सम्बन्धी है। 'वृक्ष पर पक्षी निवास करते हैं', यहाँ निवास क्रिया का वृक्ष अधिकरण है। जिस प्रकार एक वृक्ष को विभक्ति ने कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध और अधिकरण के रूप में विभक्त कर दिया है इस प्रकार "ओम्" में परिवर्तन नहीं हो सकता। इसके आगे विभक्ति आते ही अपने रूप को खो देती है, अतएव यह अभेद्य है, भेद कारक विभक्ति की शक्ति का यह स्थान नहीं है। अग्नि उस ही वस्तु को जला सकती है जो दग्ध होने के योग्य हो, अदाह्य वस्तु को जलाने अथवा मिटाने की उसमें शक्ति ही नहीं है, वहाँ तो अग्निस्वयमेव शान्त हो जाती है। इसी प्रकार यह 'ओम्' शब्द सर्वदा अपनी महिमा में स्थिर रहता है यह इसका स्वभाव है। कोई भी वस्तु अपने स्वभाव का परि-

त्याग नहीं करती। अपरिवर्तनशील वस्तु को जो बदलने की चेष्टा करता है वह स्वयं ही अबल होकर विनष्ट हो जाता है।

वचन से व्यत्यय होना पाठक इस दृष्टान्त से जान सकते हैं—जैसे पुरुष शब्द एक वचन, द्विवचन और बहुवचन प्रत्यय के विधान से "पुरुषः, पुरुषौ, पुरुषाः" ऐसे रूपों को धारण कर लेता है, और उच्चारण में भेद पाकर पुरुष एक है दो हैं और बहुत हैं इन अर्थों का द्योतक बन जाता है। इस प्रकार "ओंम्" शब्द में दर्शन, उच्चारण और वचन-भेद कदापि नहीं हो सकता है। वचन-विधायक प्रत्यय की प्रतीति, उसकी नीति और प्रीति का यह स्थान ही नहीं है। जैसे और शब्दों पर यह अपना बल बढ़ा कर उनको अपने वश में लाता है, वह "ओम्" शब्द को निहार कर अपनी बलहीनता का अनुभव करता हुआ लज्जा से दूर ही हट जाता है, यह प्रसिद्ध हो रहा है।

लिंग सूचक प्रत्यय, जैसे शब्द को पुल्लिङ्ग, स्त्री-लिंग और नपुंसकलिंग के स्वरूप में बदल देते हैं वैसे "ओम्" शब्द में किसी प्रकार का भी परिवर्तन-स्वरूप भेद नहीं हो सकता। सदा समानरूप में रहना इसका स्वभाव है।

शंका—जिस प्रकार ओम शब्द के स्वरूप में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता, उसी प्रकार ऐसे तो अनेक अव्यय हैं जो सर्वदा समान रूप में रहते हैं, कभी भी विकार को प्राप्त नहीं होते तो फिर ओम् में ही क्या विशेषता है ?

उत्तर—तुल्य गुण होने से भी यह ओम् शब्द सर्वदा सर्वथा उसी अर्थ का (जो सृष्टि, स्थिति, प्रलय-विधान में बड़ा ही चतुर है, जिससे यह सब प्रपञ्च प्रत्यक्ष होता है, स्वयं कभी दृष्टि-पथ में नहीं आता और अपने कार्य करने में जिसको किसी सहायक की आवश्यकता नहीं, जो अतुल बल, प्रचण्ड तेज, अनन्त सामर्थ्यशाली है) बोधक है। कथंचित् क्वचित् कदाचिदपि अन्यार्थ का वाचक नहीं होता, अतएव यह "ओम्" पद परमात्मा का स्वाभाविक नाम है। परमेश्वर से भिन्नार्थ का सूचक होना इसका स्वभाव ही नहीं है। इससे अतिरिक्त जितने अव्यय पद हैं वह सब भिन्न-भिन्न अर्थों के सूचक हैं। यदि कोई परमेश्वर का बोधक है तो वह प्रकार-भेद से अर्थान्तर का ज्ञापक भी हो जाता है। यह न्यूनता "ओम्" पद में कभी भी नहीं आ सकती। जिस प्रकार "ओम्" शब्द में परमात्मा के अनेक नामों का समावेश हो गया है और पुनः उन नामों

से अनेक विध अर्थगौरव की प्रतीति होती है, अन्य किसी भी अव्यय पद से ऐसे अर्थों का प्रकाश नहीं होता।

व्याकरण की रीति से "ओम्,' शब्द सिद्ध होकर १९ उन्नीस अर्थों का द्योतक है यह पूर्व कह दिया है। गणित विद्या के ज्ञाता इस नियम को भली भाँति जानते हैं कि एक का जो अङ्क है वह अपने में पूर्ण सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है, अतएव इसकी सत्ता का सद्भाव सर्व अङ्कों में समान है और सर्व अङ्कों की सत्ता इस एक में विद्यमान है। '९' नौ का जो अङ्क है वह सर्वतन्त्र स्वतन्त्र तो नहीं परन्तु पूर्ण अवश्य है। पूर्ण वह है जो अपने में न्यूनता को न आने दे। यह ही कारण है कि संख्या एक से आरम्भ होकर नौ पर समाप्त हो जाती है। शेष इन्हीं अङ्कों का विस्तार है। एक का अङ्क सब के आदि, मध्य और अन्त में प्रकट हो रहा है। जैसे एक दो में तो है किन्तु दो एक में नहीं है। इसी प्रकार छोटी संख्या की सत्ता बड़ी संख्या में पाई जाती है। एक का अङ्क सूक्ष्म है शेष सब अङ्क स्थूल हैं। जिस प्रकार सूक्ष्म का समावेश स्थूल में हो जाता है, उसी प्रकार स्थूल का प्रवेश सूक्ष्म में नहीं आ सकता है। नौ पूर्ण संख्या है, यह ही कारण है कि इस के आगे

संख्या का विधान नहीं है। जिस प्रकार एक के साथ एक मिलने से दो हो जाते हैं। दो के साथ जब एक मिलता है तो तीन कहलाते हैं। इसी प्रकार एक की वृद्धि से संख्या में वृद्धि और हानि से ह्रास होता है। यह वृद्धि और ह्रास का स्वरूप नौ तक बढ़ता है और एकान्त घटता रहता है। नव अङ्क की व्यवस्था अन्य अङ्कों से भिन्न है। जब एक का अंक इसमें मिलने के लिए समीप आता है तब वह वृद्धि को न प्राप्त होकर विन्दु के रूप में बदल जाता है परन्तु अपने गौरव को नहीं घटाता है। यह सर्वदा पूर्णता का पक्षपाती है यही कारण है कि इस विन्दु ने ही उत्पन्न होकर गणित विद्या को पूर्ण बना दिया है। यदि इसको पृथक् कर दिया जावे तो पुनः गणित विद्या की परिस्थिति कुछ नहीं रहती और न इस को विद्या का स्थान ही मिल सकता है।

विन्दु और नव के अंक में स्वरूप भेद के विना अन्य कुछ भी अन्तर नहीं। यह दोनों परस्पर समान ही हैं। यह स्थिर सिद्धान्त इस नियम से प्रकट हो रहा है, कि यदि किसी भी अंक के आगे से विन्दु को हटाएंगे तो निश्चित वहाँ से नव को ही मिटाएंगे। पाठक इस दृष्टान्त से समझें:—कि दश के आगे से यदि विन्दु को दूर करें तो नव ही लुप्त होता है, और

यदि '१०१' एक सौ एक के मध्य से विन्दु को पृथक् करें तो ९० नव्वे दूर होंगे। ९० नव्वे में नव तो विद्यमान ही है। पुनः नव के आगे से विन्दु हटाया जाय तो ८१ इकासी हो जाते हैं जिस के कि आठ और एक मिलाकर नव ही हो जाता है। इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिए। किसी भी अङ्क से आगे विन्दु लाने या हटाने से नव ही आते अथवा जाते हैं, अतएव यह इस प्रकार अपनी पूर्णता का पूरा परिचय दे रहा है। जिस प्रकार अन्य अङ्कों को परस्पर गुणा करने से न्यूनाधिक लाभ होता है, नव को गुणा करने से समानता ही रहती है कोई भेद नहीं आता है।

पाठक विचारें कि 'अव्' धातु के अर्थ उन्नीस है। इस में नव और एक दोनों अङ्क विद्यमान हैं। एक स्वरूप से पूर्ण स्वतन्त्र है, और नव से न्यूनता कदापि नहीं आती, यह सर्वदा पूर्णता का पक्षपाती समान रूप में ही रहता है। एक से आरम्भ होता है और नव पर समाप्त होता है। 'अव्' धातु से 'ओम्' शब्द सिद्ध होकर पूर्ण परमात्मा और उस के सर्वगुणों का बोधक हो रहा है।

नव अङ्क में जब अन्य अङ्कों के समान एक का मेल होता है तो नव का अङ्क अन्य सर्व अङ्कों को
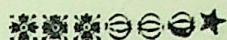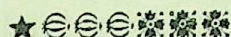
अपने गर्भ में लेकर बिन्दु के रूप में बदल जाता है अब दश का अङ्क इस विषय को प्रकट कर रहा है। एक का अङ्क तो पूर्ण परमात्मा का [जो कि सब के आदि, मध्य और अवसान में स्वरूप से विराजमान है] सूचक है, और बिन्दु प्रकृति के तुल्य है। जैसे बीज वृक्ष को अपने गर्भ में लेकर एक रूप हो जाता है किसी प्रकार का भेद-भाव दृष्टि में नहीं आता, वैसे ही विलयावस्था में सर्व संसार-चक्र नष्ट-भ्रष्ट हो कर सूक्ष्म मार्ग में गति करता हुआ प्रकृति के रूप में जा समाता है [यह अवस्था सर्वथा अप्रतर्क्य-अचिन्त्य है। सुषुप्ति ही इस का यथार्थ उदाहरण है। यह ही तो कारण है कि निद्रा अवस्था का सहस्र वर्ष और एक घटिका समान है और सब के लिए समवर्त्ति है। प्रत्येक प्राणी अपने स्वरूप को भूल कर मग्न हो जाता है और जाग्रत दशा में पुनः तारतम्य की उलझनों में फँस जाता है] और फिर सृष्टि-मय ज्ञान-पूर्वक परमात्मा के प्रयत्न से स्थूल हो कर दृष्टि-पथ में आता है। मुक्त जीव जो विद्या और तप के प्रभाव से अविद्या के बन्धन से पृथक् हो कर पूर्ण परमात्मा के विचार और स्वात्मसाक्षात्कार से न्यूनता रहित अपने में पूर्ण हो जाते हैं वह नव अङ्क के समान हैं। शेष जीव कारण शरीर (जिस को अज्ञान
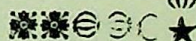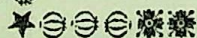
अथवा प्रकृति भी कहते हैं) तत्सहित और आत्म-ज्ञान रहित वन्धन से युक्त सुषुप्त अवस्था में विद्यमान हैं, वह दो से लेकर आठ तक के अङ्कों के समान हैं। और इन अङ्कों में गुणा या मेल करने से जो इन में न्यूनाधिक भाव उत्पन्न होते हैं वे अज्ञानाधीन जीवों के कर्म हैं, जो संसार में लाकर जन्म और मरण के निमित्त न्यूनाधिक सुख और दुःख भोगभागी वनाते हैं जब ईश्वर की न्याय अवस्था का सहारा पाते हैं। जो इन में से पुनः प्रभु-भक्ति के योग से पूर्णता में आता है वह मोक्ष पद को पाता है।

इस कथन से यह सिद्ध हो रहा है कि परमात्मा परिणाम-विकारशून्य एक अद्वितीय असहाय है। विन्दुसम अनादि प्रकृति का उस के साथ सहचार नित्य है और जीवों की अवस्था वन्ध मुक्त भेद से दो प्रकार की है। जो पूर्ण प्रकाश में आते हैं वे मुक्त कहलाते हैं और जो अन्धकाराधीन अज्ञाना-वृत होते हैं वे वन्धन में आते हैं। मुक्त नव अङ्क के समान और वद्ध अन्य अङ्कों के समान हैं। एक और नव के अङ्क को छोड़ कर शेष अङ्कों में जो तारतम्य-सत्ता है वह अविद्याजन्य जीवों के कर्म हैं। जीवों के नित्य होने से कर्म व्यवस्था भी प्रवाह से नित्य है। सारांश यह है कि एक अङ्क के समान परमेश्वर,

विन्दुसमप्रकृति, नव अंक के तुल्य मुक्त जीव और शेष अंकों के सदृश बद्ध जीव हैं। इन अंकों की तारतम्यता जीवों के कर्मों को जतलाती है। कर्म और संसार प्रवाह से नित्य हैं स्वरूप से नहीं। इस कथन का यह आशय है कि मुक्तावस्था में कर्म-प्रवाह रुक जाता है और प्रलयावस्था में संसार दृष्टि पथ में नहीं आता है।

गणित विद्या भी इस वैदिक सिद्धान्त को बड़ी सुन्दरता से प्रकट कर रही है। यद्यपि गणित-विद्या का प्रयोजन कुछ अन्य ही है तथापि जबकि सर्व विद्याओं का विकास सृष्टिप्रमकाल से ही है तो प्रत्येक विद्या गौण मुख्य भाव से अपने अपने विषय को प्रकट करती हुई सर्व संसार के निर्माता, सर्व विद्याओं के विधाता परमात्मा की साक्षात् अथवा परम्परा सम्बन्ध से सूचक हो ही जाती है। तो गणित विद्या से भी लाभ उठाना युक्तियुक्त ही है।

'अव' धातु से व्युत्पन्न जो "ओम्" शब्द सिद्ध होता है उसका ऊपर कथन किया गया है। अव्युत्पन्न जो "ओम्" शब्द है अब उसका वर्णन किया जाता है। अकार-उकार और मकार जब इन तीनों को व्याकरण की रीति से मिलाते हैं तब "ओम्" शब्द बनता है। यह अव्युत्पन्न कहलाता है। अकार और उकार ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत भेद से

तीन तीन प्रकार के हैं। मकार भी हल्, अनुस्वार और अनुनासिक भेद से तीन प्रकार का है। "अ" से विराट्, अग्नि और विश्व का ज्ञान, "उ" से हिरण्यगर्भ वायु और तेजस् का बोध, "म्" से ईश्वर, आदित्य और प्राज्ञ को परिज्ञान होता है। यह परमात्मा के पवित्र नाम "ओम्" में विद्यमान हैं। इन शब्दों की व्याख्या ऋषि ने पञ्चमहायज्ञ-विधि नामक पुस्तक में भली भाँति की है, वहाँ ही अवलोकन करना ठीक है।

अकार, उकार और मकार से इन नामों का ग्रहण कहाँ से हुआ और कैसे हुआ इसका ठीक ठीक पता अभी तक नहीं मिला है। सम्भव है कि संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों में कहीं इनका उल्लेख ऋषि की दृष्टि में आया हो परन्तु भिन्न-भिन्न स्थलों में अनेक स्थानों पर इन शब्दों की व्याख्या वेदों में तो देखने में आती है। शब्द और अर्थ में वाच्य वाचक सम्बन्ध है। "ओम्" शब्द वाचक है और उसका वाच्यार्थ सर्व जगत् का स्वामी, सबका अन्तर्यामी परमात्मा है। इसमें अनन्तार्थ विद्यमान होने से यदि ऋषि ने "ओम्" के विभागों से इन नामों का संग्रह किया है तो व्याख्यान श्रद्धास्पद तथा सुन्दर ही हो गया है, आक्षेप का स्थान नहीं है।

कृष्णचन्द्रजी महाराज गीता में बता रहे हैं कि मैं वर्णों के मध्य में अकार हूँ-अर्थात् प्रभु की विभूति को यदि वर्णों में देखना हो तो अकार में देखो। सर्व अक्षरों में इसकी श्रेष्ठता इस कथन से प्रकट हो रही है। अन्य वर्णों में इसका आदि होना, यह इसकी ज्येष्ठता को सिद्ध कर रहा है। यह सर्वथा स्वाधीन स्वर है, इसका उच्चारण स्वयं सिद्ध है। अपने उच्चारण में इसको किसी सहायक की आवश्यकता नहीं है। अन्य हल्-व्यंजन अक्षर अपने उच्चारण में पराधीन हैं। जब तक उनके साथ किसी स्वर का संयोग नहीं होता तब तक उनके उच्चारण में सरलता नहीं आती। हलों के उच्चारण करने में स्वर ही सहकारी कारण हैं। इससे यह सिद्ध हो रहा है कि स्वाधीनता ही पूर्ण रूप से श्रेष्ठता और ज्येष्ठता का चिन्ह है। प्रत्येक बुद्धिमान मनुष्य इसकी प्राप्ति के लिये ही यत्नवान देखा जाता है।

शंका—जब इकार, उकार आदि अन्य भी अनेक स्वर विद्यमान हैं, तो अकार में ही क्या विशेषता है?

उत्तर—विचार करने से पता चलता है कि जब यह अकार किसी हल् अक्षर से मिलता है तब उसकी ध्वनि को स्पष्ट तथा सरल तो बनाता ही है परन्तु अपने को छिपाता और उस वर्ण के उच्चारण में भेद

नहीं आने देता है। परमात्मा ने सर्व संसार को बनाया और अपने को छिपाया है। वह सब का आधार है फिर भी निराकार है। प्रभु के इस एक गुण के साथ अकार का सहचार है यह ही इसमें विशेषता है। परोपकारी पुरुष का भी यह ही स्वभाव होता है कि वह दूसरे के कार्य को तो बनाता है किन्तु अभिमान में नहीं आता प्रत्युत भूल जाता है। इस अकार को परोपकार से प्यार है यह ही इस में उत्तमता है। इकार और उकार आदि स्वरों में यह गुण नहीं। वह जिस हल् अक्षर के साथ मिलते हैं वहाँ अपने को दर्शाते हैं और उसकी ध्वनि को अपने अनुकूल बनाते हैं। इकार और उकार आदि स्वर कभी कभी हल् के स्वरूप में परिवर्तित हो जाते हैं। स्वर होने पर भी वह दोष इनमें विद्यमान है परन्तु अकार कदापि इस दोष से दूषित नहीं होता। यह सर्वदा स्वतन्त्रता और स्वाधीनता का पक्षपाती है। स्वरूप का परित्याग करना इसके स्वभाव में ही नहीं। जब कभी अकार स्वर से मिलता है तब इस के स्वरूप और ध्वनि में तो भेद आ जाता है, जैसे—अ+इ मिल कर 'ए' अ+उ मिल कर 'ओ' हो जाता है, परन्तु 'अ' का सहचार उनके साथ तब तक ही है जब तक वह स्वर के रूप में रहते हैं। 'ए'

और 'ओ' में मिले हुए 'इ' और 'उ' जब स्वर को आगे निहार अपने स्वरूप को त्याग कर व्यंजन की अवस्था 'य' और 'व' में आजाते हैं तब 'अ' उनसे पृथक् होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, यह दूसरी विशेषता है। आत्मा के प्रयत्न से जब अन्तःस्थ वायु का आघात होता है तो वह वायु कण्ठादि स्थानों में होकर पुनः जिह्वा के प्रयत्न से अक्षर, शब्द और वाक्य के रूप में बन जाता है। जिन स्थानों से अक्षरों का उच्चारण होता है, उन सब में प्रथम स्थान कण्ठ है, और जिन अक्षरों का कण्ठ स्थान है उन सब में अकार प्रथम अक्षर है। इस से यह सिद्ध हो रहा है कि सृष्टिसमकाल से परमात्मा के ज्ञानपूर्वक प्रयत्न से जब अक्षरोच्चारण विद्या का विधान हुआ तो सबसे पूर्व 'अ' की ध्वनि होने लगी, इसको ही नाद कहते हैं। यह अव्यक्त स्वर सर्व प्रकार के उच्चारण की आधार भूमि है। शब्द और वाक्य रचना इसका ही परिणाम है। जिस प्रकार सृष्टि-उत्पत्ति का इतिहास संकल्प में आर्य लोग नित्य पढ़ते हैं ठीक इसी प्रकार चतुर गायक सृष्टिसमकाल में होने वाले 'अ' इस अव्यक्त स्वर को ही पहले आलाप में लाते हैं और पश्चात् गाते हैं। संसार भर में यह ही प्रकार है। वेद और नाद का नित्य सम्बन्ध है अत-

एव यह सर्वोत्तम स्वर है और इसका उच्चारण बहुत ही सरल है। अभिनवजात बालक अपने साथ स्वयं सिद्ध इस ही भाषा को लाता है, पश्चात् अन्य भाषाओं का चित्र इस पर ही आता है। जैसे अव्यक्त प्रकृति से व्यक्त संसार उत्पन्न होता है वैसे ही अव्यक्त भाषा से व्यक्त भाषाओं का अभ्यासबलात् उत्थान होता है। यदि लघु बालक किसी व्यक्त वाणी को अपने साथ लाता तो पुनः किसी अन्य भाषा का शिक्षण असाध्य हो जाता। अब आप लघु बालक के पास बैठकर यदि ध्यान से सुनेंगे तो वह 'अ' का ही अनुकरण करता हुआ प्रतीत होगा। अभी स्थान और प्रयत्न जिनकी सहायता से अन्य अक्षरों का उच्चारण होता है दुर्बल हैं, परन्तु अनायास होने वाली ध्वनि का 'अ' से समानाधिकरण हो रहा है। शयन-काल में परमात्मा के प्रबन्ध से प्रयत्न पूर्वक श्वास का आयातनिर्यात जो हो रहा है उससे भी दीर्घ-ह्रस्व 'अ' की प्रतिध्वनि को बोध होता है। प्राण प्राणीमात्र के जीवन का आधार है, गुप्त प्रकट रूप यह व्यापार प्राण के उत्थान में समान है; यह नियम परमात्मा की विचित्र माया का सूचक है। किस प्रकार प्राणवायु शरीर में स्थिर होकर जीवन का निमित्त हो रहा है, कैसे आता है किधर से निकल

जाता है, यह मनुष्य के विचार का विषय ही नहीं। बड़े-बड़े विद्वान् विचार शील देखते हुए न देखने वालों के तुल्य, और वाग्मी वाचाल मूकसम हो रहे हैं। प्रत्यक्ष है पता नहीं मिलता, स्थिर नियम है विचार के आघात से नहीं हिलता। निर्धन हो अथवा धनवान्, निर्बल हो या बलवान्, मूर्ख हो या विद्वान्, बालक हो या जवान, रोगी हो या योगी, सुखी हो या दुःख भोगी, आलसी हो या पुरुषार्थी, स्वार्थी हो या परमार्थी, उदार हो या कंजूस, दाता हो या मक्खीचूस, सकल हो या विकल, बेकार हो या बाकार, यह नियम सदा सर्वत्र समान विद्यमान है। समय-समय पर विचारकों ने विचार कर के तीव्रगति से अन्वेषण तो किया किन्तु थकावट ने आ गिराया। निराशा ने सताया, शोक ने घेरा पाया, जब कुछ बोध हुआ तो सर उठाया तब यह वचन मुख से कह सुनाया। यह सौदा अक्ल के तराजू में तोला न गया, खामोश हो गए फिर बोला न गया। जिन स्थानों से अक्षरों का उच्चारण होता है उन सब में कण्ठस्थान आदि है और ओष्ठस्थान अन्तिम है, शेष स्थान मध्यवर्ती हैं। अकार परमात्मा के तुल्य, परिणाम विकार-शून्य सर्वावस्था में समान है। अकार जब स्वर के रूप में विद्यमान है तब मोक्षपद प्राप्त जीव के समान

है। और जब हल् के स्वरूप को धारण करता है तब स्वतन्त्र मोक्षपद से पृथक होकर जन्म-मरण के बन्धन में गिरता है। मकार का उच्चारण ओष्ठों के परस्पर मिलाने या हटाने से नहीं होता प्रत्युन मिलाकर खोलने से होता है। यह प्रकृति की दो अव-स्थायें हैं। कभी संसार सूक्ष्मता की ओर गति करता हुआ प्रकृति के रूप में जा समाता है और कभी प्रकृति स्थूलावस्था को प्राप्त करती हुई दृश्यमान संसार के स्वरूप में आ जाती है। जीवों की बद्ध, मुक्त और प्रकृति की सूक्ष्म-स्थूल भेद से दो अवस्थायें प्रवाह से अनादि हैं। इनके परिवर्तन में परमात्मा का ईक्षण अर्थात् ज्ञान-पूर्वक संसार का निर्माण और न्याय व्यवस्था से कर्मफल का विधान ही निमित्त कारण है। अन्यथा (न हम न तुम यह दफ्तर ही गुम) संसारावस्था को देख कर यह कल्पना साध्वी ही है।

प्रकृति का संकोच और विकास तो प्रत्यक्ष ही है परन्तु 'म' का दूसरा रूप अनुस्वार-बिन्दु है, इसका सर्वदा सहचार स्वाधीन स्वर से ही होता है। जो अक्षर हल् हैं उन के साथ इस का कदापि मेल नहीं होता। इसका यह कारण है कि कर्म फलाधीन बद्ध जीव प्रकृति को विकृति में लाने या विकृति को

प्रकृति में ले जाने की सामर्थ्य से सर्वदा विहीन और मुक्त आत्मा इस इच्छा से पृथक् स्वच्छन्द आनन्द में लीन होते हैं। प्रकृति बद्ध के साथ सम्बन्ध को छोड़ती और मुक्त के साथ जोड़ती नहीं, पुनः सहयोग व्यर्थ है। अतएव शास्त्रों में इस परमात्मा की शक्ति को प्रकृति, प्रधान, अव्यक्त और माया आदि नामों से स्मरण किया है. इन में भेद कुछ नहीं। व्यर्थ विवाद को उठाकर मनुष्य-समाज ने कलह को जगाया और क्लेश को बढ़ाया है। विचार करने से प्रतीत होता है कि 'ओम्' शब्द की व्याप्ति सर्वत्र है।

अब इस बात पर विचार किया जाता है कि वेदादि सच्छास्त्रों में ब्रह्मपद वाचक 'ओम्' शब्द का निर्देश कहां कहां पर किया गया, है उस के स्मरणभूत प्रमाणों का दिग्दर्शन कराया जाता है—

ओ३म् स्मर ॥१॥

यह यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के १५ वें मन्त्र का अंश है, जिस का यह आशय है कि जैसे पिता पुत्र को और गुरु शिष्य को उस के कल्याणार्थ सन्मार्ग का उपदेश करता है, ठीक इसी प्रकार परमात्मा सब का रक्षक होने से पिता और अनुशासक होने से

सब का परमगुरु है । अतएव वह आत्मा के हितार्थ यह सन्देश दे रहा है कि मृत्यु-समय जब आत्मा का शरीर से वियोग होने लगता है तब मनुष्य पूर्वानुभूत विषय वासनाओं के अधीन हो कर पुनः पुनः उन वस्तुओं के चित्र को सामने लाता, वासना रज्जु से जकड़ा हुआ अपने को असहाय जान कर नयनों से नीर बहाता और क्लेश पाता है । यह विकट समय सब के लिए समान है। उपर्युक्त वेद-वचन आत्मा को सम्बोधन कर के यह सुना रहा है कि यह बड़ा ही विषम समय है, संसार यात्रा से अपनी मनोवृत्तियों को हटाकर, चित्त से ममता को मिटाकर, मोह जाल से अपने को बचा कर सावधान होकर 'ओम्' पदवाच्य जगदीश्वर के ध्यान में मग्न और उस के ही ज्ञान में सन्लग्न हो। रोने धोने का अवसर नहीं है। मार्ग किधर है , तू किधर को जा रहा है। प्रवाह सीधा और सरल है, तू मोहावर्त्त में भ्रम से गोते खा रहा है ! यह विकट काल है, समय का परीक्षण और अपनी शक्ति का निरीक्षण कर, उत्साह और साहस से उठ, प्राप्तव्य स्थान सम्मुख है, उस ओर गति को बढ़ा, धैर्य को धार, बाजी जीती हुई है प्रमाद से मत हार, संसार के प्रलोभन, जो मित्रवत् प्रतीत हो रहे हैं वास्तव में शत्रु

हैं, छल है इनके धोखे में मत आ, इनका साथ छोड़ने में ही तेरा कल्याण है। मेरे मित्र! भुक्त विषय-वासनाओं के विष से उदास होजा और उत्साह करके स्थिर स्वभाव होकर प्रभु चरणों के पास होजा। कितना सुन्दर उपदेश उपर्युक्त वेद-वचन के गर्भ में विद्यमान है, परन्तु यह बात लगातार अभ्यास से सिद्ध होगी अन्यथा नहीं।

ओ३म् इत्येतत् ॥२॥

यह कठोपनिषद् का वचन है। यम के प्रति नचिकेता का तृतीय प्रश्न है। "भगवन्! धर्म सुख और अधर्म दुःख का कारण है, यह स्थिर सिद्धान्त है। परन्तु इनसे संसार-यात्रा समाप्त नहीं होती। संसार का सुख कितना ही उज्ज्वल क्यों न हो क्लेश-लेश से सर्वथा पृथक् नहीं होता, यह दृष्टिगोचर हो रहा है। भेद केवल इतना ही है कि धर्म यदि स्वर्ण शृङ्खला है तो अधर्म लोहमयी बेड़ी है, दोनों का फल संसार का बन्धन ही है। कर्मवासना-रज्जु से जकड़ा हुआ आत्मा संसार-यात्रा में गति करता ही रहता है। इस प्रवाह से हटाने और स्वच्छन्दगति में लाने का निमित्त यदि कोई वस्तु है तो कृपया आप मुझे उसका बोध करावें। इष्टानिष्ट कर्मों का फल सुख-

दुःख किसके अधीन है ? पुरुष सुख की अभिलाषा करता हुआ दुःख पाता है अतएव पराधीन जान पड़ता है । शुभाशुभ कर्म जड़ होने से स्वयमेव फल के उद्‌भावक नहीं हो सकते हैं । जो इस चक्र का संचालक है मुझे केवल उसी की जिज्ञासा है ।

"संसार कार्य है, अतएव अनित्य है । इसका कारण प्रकृति नित्य है तथापि यह संसार के रूप में स्वयं कभी भी परिणत नहीं हो सकती और संसार कभी विलायावस्था में नहीं जा सकता । अत: प्रकृति को संसार दशा में लाने और पुनः संसार को प्रकृति में ले जाने का जो नियम है इसका नियामक कौन है ? जड़ वस्तु में ज्ञान नहीं होता । उसमें विषयता सम्बन्ध से तो ज्ञान रहता है, अधिकरण या स्वरूप-सम्बन्ध से नहीं रहता । गमनशील संसार किसी स्थिरस्वभाव वस्तु के अधीन होना चाहिए । मेरी इच्छा उस वस्तु के जानने की है कृपया उसे बतायें ।

"भूत, भविष्यत् और वर्तमानकाल का अधिकार उन ही वस्तुओं पर होता है जो उत्पन्नशील होती हैं । उत्पद्यमान वस्तु वर्तमान काल को तीन भागों में विभक्त कर देती है अतएव काल की शक्ति समयान्तर में उस वस्तु के नाम को मिटाती है । नित्य वस्तुओं में

काल का प्रचार समान सहचार से है, विषमता से नहीं। इस काल-चक्र का स्वामी सर्वान्तर्यामी है आप उसको जानते हैं मुझे उपदेश दें।"

सारांश यह है कि नचिकेता यम से पूछता है कि भगवन्! धर्म और अधर्म, कार्य-कारण और भूत भविष्यत्, वर्तमान काल के व्यापार से पृथक्भूत जो वस्तु है मैं उसका जिज्ञासु हूं। यम ने उत्तर में यह कहा कि 'ओम् इत्येतत्' वह' 'ओम्'' नाम का नामी है।

तत्रैव सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमस्ति ॥३॥

हे नचिकेता! 'ओम्' पदवाच्य परमात्मा की प्राप्ति में ही सब वेदों का साक्षात् या परम्परा सम्बन्ध से तात्पर्य है। यज्ञ, तप, दान, शुभ कर्मों का अनुष्ठान, सत्संग, स्वाध्याय सृष्टिक्रम का ज्ञान, परकीय कष्टनिवारण में मन की लगन, धर्मात्मा, साधु, सन्त, महात्मा के दर्शन से मन मगन, सद्-विचारों का आविर्भाव सुन्दर स्वभाव, कर्तव्यपालन में रुचि, अतिथि सेवा में अन्तःशुचि, परस्पर में प्रेम, न्यायानुसार योगक्षेम इत्यादि उत्तम कर्म परमेश्वर की प्राप्ति के लिये ही किये जाते हैं, यह वेदों का संकेत है। वेदादि सच्छास्त्रों के पठन का

मुख्य फल यही है यहाँ पर ही मनुष्य-कर्त्तव्य की परिसमाप्ति है।

एतस्यैव शरणं वर अविद्यादि क्लेश निधारणाय ॥४॥

अविद्या, विपरीतज्ञान संशयज्ञान और अज्ञान यह सब एक दूसरे के साथ मिलते-जुलते शब्द हैं, इनके अर्थ में कोई विशेष भेद नहीं। यह ही सब दुःखों की आधार-भूमि है। इसका निवारण ही संसार के विच्छेद का कारण है, सब प्रकार के अनर्थों की प्रवृत्ति का मारण, अर्थ-ज्ञान पूर्वक 'ओम्' शब्द का उच्चारण, अर्थ विचारानुकूल व्यवहार का धारण ही अविद्यादि क्लेशों के दूर करने का हेतु और संसार-सागर से पार होने का दृढ़ सेतु है। नचिकेता के प्रति यम का यह उपदेश है।

ओम् उद्गीथः प्रणवश्चेति ॥५॥

ओम्, उद्गीथ और प्रणव यह तीनों समानार्थक हैं, इनका वाच्यार्थ एक जगदीश्वर ही है। ओम् शब्द तो प्रसिद्ध ही है। छान्दोग्य उपनिषद् में इसको उद्गीथ कहा है। कारण यह है कि प्लुत

ध्वनि से 'ओम्' के उच्चारण के पश्चात् ही वेदमन्त्रों को पढ़ते हैं। अतएव ओम् का नाम उद्गीथ है। इस के उद्, गी, थ, यह तीन अवयव हैं। उपनिषद् में इस की व्याप्ति को ब्रह्माण्ड भर में दर्शाया है। इस का व्याख्यान वहाँ ही देखना चाहिए। ओम् का ही अभिधान प्रणव है। इस में परमात्मा के गुणों का उत्कर्ष और उस की स्तुति का प्रकर्ष है। अतएव उद्गीथ और प्रणव उपचार से ओम् के ही नाम हैं, भेद-बोधक नहीं।

ओम् इत्येकाक्षरं ब्रह्म ॥६॥

यह गीता का वचन है, इस में ओम् को एक ही अक्षर बताया है। उपनिषदों में भी अनेक स्थलों में ऐसा ही विधान आया है। जो पुरुष मृत्यु-समय अर्थ—विचार-पूर्वक ओम् शब्द का उच्चारण करता हुआ शरीर का परित्याग करता है वह परमगति—मोक्षपद को प्राप्त करता है, यह फल बताया है। परन्तु मृत्यु के आघात से मनुष्य व्याकुल हो जाता है सावधान नहीं रहता, ऐसी स्थिरमति का होना अनेक जन्म कृत पुण्य कर्मों का फल है अतः इस पद की प्राप्ति के लिए मनुष्य को पूरी लगन से यत्न करना चाहिए। यहां पर ही मनुष्य-कर्त्तव्य की परिसमाप्ति है।

वर्णात्कारः ॥७॥

वर्ण अक्षर से कार प्रत्यय का विधान है। माण्डूक्य उपनिषद् में अनेक बार ओङ्कार ऐसा पाठ आता है। इस सिद्धान्त के आधार पर तो यह सिद्ध हो जाता है कि 'ओम्' स्वयं सिद्ध स्वरूप से ही एक अक्षर है। अन्यथा 'कार' प्रत्यय की योजना ही व्यर्थ हो जाती है। 'अव' धातु से जो ओम् शब्द सिद्ध होता है वह व्युत्पत्ति सहित और अ—उ—म के मेल से त्रिवर्णात्मक जो ओम् बनाता है वह व्युत्पत्ति रहित है। यह दोनों एकाक्षर ओम् की ही अनुकृति या प्रतिकृति हैं। यह विवाद का विषय नहीं है प्रत्युत व्याख्यान को सरल बनाने की सुन्दर रीति है। शास्त्रों ने इस अक्षर को ही अविनश्वर कहा है। अन्य अक्षरों को उपचार से तो अविनाशी कह सकते हैं स्वरूप से नहीं। इस का यह कारण है कि जिस प्रकार ओम् सर्वदा स्वार्थ के सहित है अन्य अक्षर कोई भी अर्थ अपने साथ नहीं रखते हैं। यथा—'ज' और 'ल' इन दोनों अक्षरों का यदि कुछ भी अर्थ नहीं तो पुनः इन के मेल से जब 'जल' शब्द बन जाता है तो तृषानिवृत्ति-कारक पदार्थ का उस से ज्ञान कैसे होता है, और पुनः इन के विभाग से अर्थ विलाप क्यों हो जाता है।

और यदि यह अक्षर नियतार्थ के बोधक होते तो 'प' के साथ 'ल' का योग होने से 'पल' शब्द काल के सूक्ष्म विभाग के अर्थ का सूचक न होता। इस से यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक अक्षर परस्पर के मेल-जोल से शब्दात्मक होकर भिन्न-भिन्न अर्थों का द्योतक और विघातक बन जाता है, अतएव किसी भी अक्षर का नियतार्थ के साथ विनियोग नहीं। एक 'ओम्' अक्षर ही है जिस की सर्वनियन्ता जगदीश्वर के साथ अविनाभाव व्याप्ति है। अतएव शास्त्र इसको ही नित्य बताते हैं।

ओ३म् इति ब्रह्म ॥८॥

यह तैत्तिरीयोपनिषद् शिक्षा अध्याय के अष्टम अनुवाक का आठवाँ मन्त्र है। इस में यह निरूपण किया है कि मनुष्यों को शुभ कर्मों का अनुष्ठान 'ओम्' के उच्चारणानन्तर और उस के वाच्यार्थ परमात्मा का ध्यान कर के ही करना चाहिए। इस अनुवाक में दस बार 'ओ३म्' शब्द का उल्लेख करके सत्कर्मों के अनुष्ठान का विधान है। दश पर्यन्त ही संख्या की अवधि है। इन दश कर्मों के अन्तर्गत ही सब शुभ कर्मों का समावेश हो जाता है। और परमेश्वर की उपासना 'ओम्' शब्द के ही द्वारा

करनी चाहिये यह शिक्षा है। अधिक वहाँ ही देखो।

ओ३म् इति सर्वम् ॥६॥

यह वचन, वाच्य और वाचक में अभेद अन्वय कर के सब परिदृश्यमान जगत् को 'ओम्' दर्शा रहा है। 'ओम्' शब्द वाचक और ब्रह्म इस का वाच्य है। इतरेतराध्यास से ,ओम्' ब्रह्म की प्रतिकृति, अनुकृति अथवा प्रतिमा बता रहा है, इस का नाम प्रतीकोपासना है। यह उपनिषद् का विषय है। पौराणिक पद्धति में परमेश्वर-बुद्धि से प्रतिमा-पूजन प्रतीकोपासना मानी जाती है। मैं ब्रह्म हूँ इस प्रकार के पुनः पुनः के अभ्यास से यह निश्चय कर लेना "अहंग्रहा" उपासना कहलाती है। प्रतीक और अहंग्रहा भेद से उपासना दो प्रकार की हुई। युक्तिहीन होने से वैदिक सिद्धान्त में इसका आदर नहीं हो सकता। स्वरूप और अर्थ-भेद से प्रतीक दो प्रकार की होती है। जब परमात्मा नीरूप, सूक्ष्म-तम और व्यापक पदार्थ है तो उसकी प्रतिमा बनाना अथवा बताना केवल बालबुद्धि का ही परिचय देना है। विपरीतज्ञान इसका ही नाम है। यह सर्व अनर्थों का बीज है अतः सर्वथा त्याज्य है। स्वरूप और प्रतीक का उपयोग रूपवान पदार्थों में होगा

जैसे हस्ति के चित्र को देख कर हस्ति का, गौ के चित्र को देखने से गौ का, पुरुष के चित्र को देखने से पुरुष का ही बोध होता है अन्यार्थ का नहीं। जब मूर्तिमान पदार्थों में भी यह नियम काम करता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है कि चित्र स्वार्थ को छोड़ कर अन्यार्थ का कभी भी सूचक नहीं हो सकता, तो नीरूप पदार्थों की ऐसी कल्पना सर्वथा व्यर्थ है। विपरीत कल्पना से किसी भी पदार्थ के स्वरूप में तो भेद नहीं हो सकता, हां कल्पक को अवश्य ही हानि उठानी पड़ती है। 'ओम्' यह अक्षर सर्वदा सर्वथा जगत्स्वामी सर्वान्तर्यामी का ही प्रत्यायक सूचक और बोधक होता है। इस से भिन्नार्थ की ओर झुकना इस का स्वभाव ही नहीं, इस का नाम अर्थ-प्रतीक है। ओम् अक्षर ब्रह्म नहीं है इस संज्ञा का जो संज्ञी है वह पूर्ण होने से सर्वत्र विद्यमान है यह ध्वनि हो रही है। जब ओम् शब्द को सुनेंगे या इस अक्षर को लिपि में देखेंगे तब यह अपने अर्थ की ओर ही संकेत करेगा।

'अहंग्रहा' उपासना अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' यह कथन युक्ति संगत नहीं है प्रत्युत विपर्ययज्ञान की महिमा और लोक-व्यवहार से विरुद्ध है। यह यथार्थ प्रतीत हो रहा है कि जब जिज्ञासु का अन्तःकरण पवित्र

होकर प्रकृति से मुक्त और ब्रह्मानन्द से युक्त हो जाता है, तब वह कृतकार्य हो कर प्रेम से यह शब्द उच्चारण करता है कि अहो ! जिस के वियोग में मैं भटक रहा था और यथार्थ मार्ग न मिलने से कुपथ में ही अटक रहा था, अब उस का अपने अन्तःकरण में ही दर्शन कर रहा हूँ । ऐसी अवस्था में जिज्ञासु और जिज्ञास्य को दूरी दूर हो कर अभेद हो जाता है । अतएव 'मैं ब्रह्म हूँ' मुझ में ब्रह्म है' यह आशय प्रकट कर रहा है वास्तव में नहीं ।

अन्यदपि दर्शनात् ॥१०॥

ऐसे ही अनेक स्थलों में 'ओम्' की महिमा का निरूपण भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है । कठोपनिषद् में प्रणव को धनु, समाहित अन्तःकरण को शर (बाण) और ब्रह्म को लक्ष्य कहा है । प्रमाद रहित, विचार सहित सावधान हो इस लक्ष्य को बेधने का तू ही अधिकारी है । लौकिक विषयासक्त अन्तःकरण की प्रवृत्ति इधर नहीं होती । इस पद की प्राप्ति के लिए निवृत्ति मार्ग की शरण ही एक मात्र सहारा है । लोक यात्रा में सत् प्रवृत्ति ही निवृत्ति-मार्ग का द्वार है । इस निश्चित नियम को जान मान कर संसार-सागर से पार होना है । योग-

दर्शन में अर्थ-विचार पूर्वक 'ओम्' का जप ही परमेश्वर-भक्ति का मुख्य रूप है। समाधि-सिद्धि इसका फल स्वरूप बताया है । कहाँ तक लिखें, प्राचीन सच्छास्त्रों के अवलोकन से और आर्यों की जीवन-यात्रा (जितनी सम्प्रति उपलब्ध ग्रन्थों से मिलती है) के आलोचन से निर्विवाद सिद्ध हो रहा है कि आर्यों का उपास्यदेव एक परमेश्वर था और वह 'ओम्' के द्वारा ही उस की उपासना करते थे। वर्त्तमान कालीन आर्यों को यदि अपने विस्मरण हुए नाम का ध्यान आया है तो ऋषि ने 'ओम्' नाम से प्रभु भक्ति करना ही कल्याण का मार्ग बताया है। इस का ही सहारा श्रेयस्कर है। यह प्राचीन विद्वानों की मर्यादा थी इस में शिथिलता आने का क्या कारण हुआ।

विपरीत प्रत्ययदर्शनात् कुत्सितभाव भावनाच्च ॥११॥

विपरीत विचारों के उदय होने से (सत्कर्मों का परित्याग, पुरुषार्थ का संकोच और आलस्य में अनुराग, स्वार्थ की वृद्धि और उदारता का विलोप, परस्पर प्रेम की न्यूनता और द्वेष का प्रकोप, न्याय-नीति का तिरस्कार और अन्याय-नीति का विस्तार,

सहनशीलता से घबराना और विलासिता में मनो-वृत्ति का बढ़ते जाना, न हिताहित का ज्ञान न लाभ हानि की पहिचान, सुख-साधनों का निकास और इच्छाविघातादि दोषों का विकास, वीरतादि गुणों से दूर और कठोर क्रूरतादि दोषों से भरपूर, व्यर्थ विवाद में प्रवीण, कर्तव्य पालन से विहीन, शनैः शनैः गुणों की बरबादी और दोषों की आबादी) मनुष्य अपने गौरव को खो कर तिरस्कार का पात्र बन ही जाता है। इस को अज्ञान की महिमा या दैवघात अथवा अदृष्ट की मन्दता जो आपके विचार में आवे, कहें। ठीक-ठीक इस के परिणाम तक पहुँ-चना मनुष्य-मति से बाहर है। ऐसी दशा में परस्पर के मेल से व्यर्थ के झगड़ों को मिटा कर जल्प-वितण्डावाद को हटाकर, अपनी दुरवस्था को ध्यान में लाकर और पुरुषार्थ को बढ़ा कर संभलना ही उचित है।

वेदों का प्रचार, संस्कृत भाषा का प्रसार, सृष्टि-समकाल से है। वैदिक साहित्य के देखने से ज्ञात होता है कि आर्यों की रीति, संस्कृत भाषा के विद्वानों की प्रीति उपासना के विधान में परमात्मा के स्वाभा-विक नाम 'ओम्' में ही रही है। यह निर्विवाद सिद्ध हो रहा है इस में सन्देह को अवकाश ही नहीं।

सृष्टि की आयु बहुत ही दीर्घ हैं, इस में अनेक बार उत्कर्ष उन्नति का सुनियमों के साथ उत्थान और कभी अवनति- अपकर्ष का प्रस्थान होता ही रहा है। उत्पत्ति का प्रतियोगी विनाश, सुख का विरोधी दुःख, विकास का प्रतिद्वन्द्वी ह्रास प्रत्यक्ष दृष्टि में आ रहा है। यह प्रकृति का नियम देश, जाति, समाज और भाषा पर समान लागू है संसार की प्रत्येक वस्तु पर उस का अधिकार है, इसका यह स्वभाव अनिवार्य है। संस्कृत भाषा की उन्नति, इस की पवित्रता इसकी ऊर्ध्वगति और विचित्रता का कोई समय तो था। यह विचार-पथ में तो ठीक आ रहा है, परन्तु सम्प्रति यह भाषा अपने अन्दर गुण गौरव को रखती हुई भी अधोगति को प्राप्त हो रही है यह प्रत्यक्ष सिद्ध है, अतः संस्कृत भाषा की प्रशंसा करने में कुछ संकोच ही होता है (सत्य होकर मिथ्या प्रतीत हो रहा है । मेरे मित्र ! यह ठीक ही है कि जब मनुष्य-समाज ही अच्छी अवस्था में न रहे दुरवस्था को प्राप्त हो जावे तो उस के साथ सम्बन्ध रखने वाली भाषा और उसको नियम में लाने वाली परि-भाषा, उस का ज्ञान और उस को यथार्थ कर दिखाने वाला विज्ञान, परमेश्वरोपासना का प्रकार, लौकिक व्यवहार, देशानुराग और इस के हितार्थ स्वार्थ का

त्याग, परस्पर मेल मिलाप, संयोग सम्बन्ध से एक आलाप, उस के धन, बल और विद्या कभी भी सुदशा में नहीं रह सकते । इन में दुर्बलता का आना, व्यर्थ नीति का बढ़ते जाना, हर समय चिन्ता के चक्र में फँस कर अन्त ज्वाला की विषम वेदना से क्लेश पाना होता ही है। भारतवर्ष इस का उज्ज्वल दृष्टान्त है। यहाँ विचार हीनता की पराकाष्ठा है, यह सुअवसर पाकर भी अपने को सम्भालने में असमर्थ सिद्ध हो रहा है। जो ग्लानि और उत्तरोत्तर हानिकर है) तथापि संस्कृत भाषा के प्राचीन होने में तो सन्देह हो ही नहीं सकता । इस के नियमों के देखने से यह ज्ञान तो अवश्य ही हो जाता है कि संसार में जब किसी भी भाषा के भाषण का प्रकार यथार्थ पथ में नहीं आया था, उस समय यह भाषा सरल सुन्दर नियमों के सहित, अन्य भाषाओं में होने वाले दोषों से रहित संस्कृत के नाम से सुप्रसिद्ध थी । उस काल के बोध की इयत्ता का विचारने से भी कोई पता नहीं चलता, तो यह कहना कि इसका विकास सृष्टिसम-काल से है युक्त ही प्रतीत होता है । पाठक विचारें कि संसार के इतिहास की दृष्टि पाँच सहस्र वर्ष से आगे नहीं बढ़ती, उस समय की व्यवस्था उसके विचार का विषय ही नहीं है । मूक के

समान कुछ पता नहीं देता। इधर पाँच सहस्र वर्ष से कुछ काल पूर्व भारतवर्ष के आर्यों ने परस्पर वैमनस्य से अपनी गति को अवनति की ओर बढ़ाया। आलस्य और प्रमाद के अधीन होकर अपने स्वरूप को ऐसा भुलाया कि फिर कभी भी उन्नति का ध्यान न आया। इस देश का अधःपतन में जाना और शनैः-शनैः अन्य देशों का उर्ध्वगमन में आना प्रत्यक्ष ही है। इससे यह प्रकट होता है कि जब भारतवर्ष अपनी सुदशा में था, तब सम्पूर्ण देश इसके प्रभाव से प्रभावित थे। परन्तु आधुनिक इतिहास-वेत्ता इस काल को कुछ इधर-उधर लाना चाहते हैं जो युक्त प्रतीत नहीं होता। इस का अधिक व्याख्यान आगे होगा।

प्रियनामग्रहण इव लोके ॥१२॥

छान्दोग्य उपनिषद् में महानुभाव शंकर ने ऐसा उल्लेख किया है कि 'ओम्' नाम के उच्चारण करने से परमात्मा प्रसन्न होता है। उस में यह हेतु देते हैं कि संसार में जिस पुरुष को जो नाम प्रिय होता है, वह उसके श्रवण से प्रसन्न होता है यह देखने में आता है। यदि ऐसा स्वीकार किया जावे तो प्रत्येक पुरुष को परमात्मा की प्रसन्नता तो अभिमत ही है और इसका सुगम उपाय भी विद्यमान है। परन्तु वैदिक धर्म से
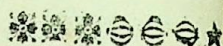
यह कल्पना कुछ दूर हो जाती है। इस का कारण यह है कि परमात्मा के आनन्द-स्वरूप होने से उस में प्रसन्नता का होना या न होना यह बताना उचित नहीं जान पड़ता। लोक प्रसिद्ध बात के सहारे परमात्मा की तुलना नहीं हो सकती। फिर उपर्युक्त वचन का तात्पर्य क्या होगा?

वक्तुर्वक्तुमिच्छाताः पर्यमिति ॥१३॥

इति शब्द सन्देह निवृत्यर्थ है। वक्ता जिस अभिप्राय से वचन को कहता है वह ही उसका तात्पर्य होता है। शंकर महानुभाव का इस कथन से यह आशय प्रतीत होता है कि परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम 'ओम्' सर्व शास्त्र प्रसिद्ध ही है यह पूर्व कहा गया है। अर्थ-विचार पूर्वक बार बार के अभ्यास से जब जिज्ञासु का अन्तःकरण उज्ज्वल हो कर आत्मस्वरूप में निश्चल हो जाता है तब राग द्वेष से वियुक्त, अविद्यादि दोषों से मुक्त अपने को जान कर प्रसन्न हो जाता। परमेश्वर तो सर्वदा आनन्द स्वरूप अद्भुत अनूप ही है, उस की भक्ति और कृपा से जब जीवात्मा में आनन्द का प्रादुर्भाव होता है तब काम कामी, काम स्वभाव जीवात्मा की जिज्ञासा की परिसमाप्ति हो जाती है। ऐसी अवस्था का आना सम्यक् ध्यान और उसके यथार्थ ज्ञान से ही

होता है। अतएव उपचार से अपनी कृतकार्यता और परमात्मा की प्रसन्नता दोनों की एकता को "ओम्" में देख रहा है। परमेश्वर सब का अन्तरात्मा है इसीलिये ज्ञानी पुरुष को अभेदान्वय से तुल्य कहा है। ऐसे भाव को मान कर भाष्यकार ने यह कहा है कि 'ओम्' के उच्चारण से परमात्मा प्रसन्न होता है। जैसे पिता पुत्र को सन्मार्ग में प्रवृत्त देख कर प्रसन्न होता है, वैसे परमात्मा जीवों को सत्पथ में वर्तमान जानकर प्रसन्नसम होता है।

प्रणवष्ट ॥ १४ ॥

यह महात्मा पाणिनिजी का वचन है कि यज्ञकर्म में वेदमन्त्रों के 'टि' संज्ञक भाग को ओम् का विधान है—अर्थात् वहाँ ओम् का ही उच्चारण करना चाहिए। परमात्मा, प्रशस्त कर्मों तथा समस्त संसार का नाम यज्ञ है। एवं यज्ञ देव-पूजा, परस्पर मेल-मिलाप और शुभ कर्मों में दान देने का नाम है। इससे यह जाना जाता है कि प्रत्येक शुभ कर्म निरभिमान होकर ईश्वर-आज्ञा पालनार्थ ही है।

यहां पर अनेक शब्द प्रमाण और युक्तिवाद से दर्शाया गया है कि प्राचीन ऋषि, मुनि, योगी और विद्वान् आर्यों की उपासना का प्रकार यह ही है। 'ओम्' अभिधान से अभिधेय परमेश्वर ही उनका

उपास्य देव था। समय के हेरफेर से वेदों को सर्वोत्तम जानते हुए भी अर्थ-ज्ञान पूर्वक पठन-पाठन की व्यवस्था को छोड़ बैठे। दर्शन ग्रन्थों के अध्ययनाध्यापन की रीति को नूतन ग्रन्थों ने दबा दिया। सम्प्रदायों की बहुलता ने ईश्वर-भक्ति के यथार्थ स्वरूप पर आघात किया। यथार्थ वैदिकधर्म हाथ से जाता रहा, अनेक भेद भिन्न साम्प्रदायिक कल्पित धर्म उसके स्थान में आते रहे, विपरीत ज्ञान का परिणाम दुःख ही होता है वह हुआ।

प्रश्न—क्या राम कृष्णादि नामों के द्वारा परमेश्वर की उपासना नहीं हो सकती ?

उत्तर—कदापि नहीं ! मेरे मित्र ! मर्यादापुरुषोत्तम राम का चरित्र रामायण, योगिराज कृष्णचन्द्र जी की गीता के उपदेश का सन्देश कुछ भागों को (जिसमें सम्प्रदाय की झलक है जो युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होती) छोड़कर शेष बड़ी ही सुन्दर और सरल है। यदि उसको श्रवण करके ग्रहण किया जावे तो वह मनुष्य-समाज के उत्थान का कारण हो सकता है। मनुष्य को गुणग्राही और प्रेम का पात्र होना चाहिए। यह गुणवान्, बलवान् और विद्वान् होने की आधार भूमि है, परन्तु सैंकड़ों बार रामायण और गीता की कथा को आर्य जनता सुनती हुई भी

भूल से श्रवणमात्र को ही पुनीत कर्म मान बैठी है। श्रवण अनुष्ठान के लिये होता है यह ध्यान में न आया। यह ही कारण था कि पवित्र रामचरित्र सुनता हुआ भाई से भाई लड़ने, परस्पर छल-कपट करने, गीता को सुनकर कायर और उत्साह हीन होकर कर्तव्य-पालन में डरने लगा। इस ही से पाँच सहस्र वर्ष से ऊपर बीत गये सँभलने में नहीं आता है। स्थान-स्थान पर समय-समय में भूल ही करता जाता है।

प्रश्न—क्या राम कृष्णादि परमेश्वर के नाम नहीं हैं? यदि हैं तो इनके द्वारा भी परमेश्वर की उपासना हो सकती है। जो सब में रम रहा है और जिसमें योगी लोग रमण करते हैं इस लिये राम परमेश्वर का नाम है। जो संसार को उत्पन्न करके प्रलय काल में छिन्न भिन्न कर देता है वह कृष्ण परमेश्वर का अभिधान हो सकता है?

उत्तर—वेदेषु अप्रतिपादनात् कल्पना बाहुल्याच्च ॥ १५ ॥

पाठक गण! रामकृष्ण ही नहीं अपितु संसार के समस्त घट-पटादि पदार्थ परमेश्वर के वाचक हो सकते हैं। परन्तु वेदादि सच्छास्त्रों में ऐसे

नामों का कहीं भी विधान नहीं है। तत्कालीन विद्वान् महानुभावों ने कहीं इनको स्वीकार नहीं किया। वह लोग तो वेद-मर्यादा को जानते थे कि "ओम" वाचक है और इसका वाच्य परमेश्वर है। इन दोनों का नित्य सम्बन्ध है इसलिये ऐसा ही मानते थे। कल्पना अधिक होने से भी यह मार्ग त्याग ही है। पाठक विचार करें कि भारत देश में अनेक मतमतान्तर प्रचलित हैं, जिनकी वृद्धि से जन-समाज की शक्ति तितर बितर हो गई है। सन्मति के विच्छेद से उत्तरोत्तर खेद बढ़ने लगा। सुधार का समय आने पर भी परस्पर का भेद मार्ग में अड़ने लगा। इधर झगड़ा है तो उधर झगेड़ा है, यहाँ टन्टा है तो वहाँ बखेड़ा बढ़ता ही गया। भारतवर्ष का दुर्विपाक सम्प्रदाय मूलक ही है। सम्प्रदाय शब्द तो अच्छा है परन्तु इसका दुर्व्यवहार होने से सम्प्रति ग्लानि और हानिकारक हो रहा है। जिन महात्माओं के नाम से जो जो मत विख्यात हैं उन उत्तमाशय पुरुषों ने तो लोगों को परमेश्वर का ही पूजन सिखाया, परन्तु स्वार्थ वा प्रेमवश होकर उनके अनुगामी जनों ने भूल से परमात्मा के स्थान पर उन महात्माओं को ला बिठाया। यह ही सम्प्रदाय शब्द का दुरुपयोग है। गुरु का भंग किया, सुख के बदले

दु:ख लिया। वास्तव में जो साधु महात्मा और गुरु-जन हों उनकी सेवा करना, नम्रता से उनके वचनों को श्रवण करना, अन्तःकरण में उनके लिये श्रद्धा का होना तो ठीक ही है, परन्तु मनुष्य को परमात्मा का स्थान कदापि नहीं मिल सकता। मूर्ति को देख कर मूर्तिमान की कीर्त्ति का ध्यान, चित्र-दर्शन से तद्वान् के चरित्र का ज्ञान और प्रतिमा के अवलोकन से तद्वान् की महिमा का व्याख्यान तो अवश्य होना चाहिए, इससे मनुष्य-समाज का हित ही है। इस सुनियम को विचार में न लाकर मूर्ति का पूजन होने लगा। और इसी के सहारे परमेश्वर का ध्यान होने लगा। कैसी गहरी भूल है, ऐसे अधूरे कामों का परिणाम कभी भी पूरा नहीं हो सकता। यथार्थ उपासना की रीति क्या है?

उत्तर:—

परमेश्वरपूजनमेव श्रेयस्करम् ॥१६॥

परमेश्वर की उपासना करने से ही मनुष्य का कल्याण होता है। यह मनुष्य का दैनिक कर्म है। इस के न करने से पुरुष अपराधी हो जाता है। अपराध को दूर करना ही बुद्धिमत्ता है। गायत्री मन्त्र द्वारा प्रभु-पूजन करना सदा आर्यों की रीति रही है। ऋषि ने भी उस ही शैली का अनुसरण करके सन्ध्या का

विधान यथाशक्ति सार्थक व्याख्यान वेदों के स्वाध्याय में यत्न करना बताया है। ऐसा करने से अन्तःकरण की शुद्धि निर्मल बुद्धि होकर मनुष्य-जीवन अपने और दूसरों के लिये हितकर हो सकता है। जितनी इस शुभ कर्म में श्रद्धा और जितना विश्वास उतना ही अविद्यादि क्लेशों का ह्रास, फिर विद्या के प्रकाश में प्रभु के आस पास हो जाता है। गायत्री शब्द का अर्थ क्या है ?

गातुस्त्राणहेतुः ॥ १७ ॥

जो जिज्ञासु अर्थ विचार पूर्वक इस मन्त्र का प्रेम नेम से उच्चारण करता है उसके लिये यह संसार-सागर-संतरण की तरणी और आत्मप्रसाद-प्राप्ति की सरणी है।

प्रश्न—गायत्री तो एक छन्द का नाम है उसमें अनेक मन्त्र हैं तो यथारुचि उनमें से किसी मन्त्र से परमेश्वर की उपासना क्यों न करें ?

उत्तरः—इसमें हानि तो कुछ नहीं है परन्तु एकता का भंग होकर भेद से खेद बढ़ने लगेगा। एवं ऋषियों ने जप के विधान में इस ही एक मन्त्र को गायत्री का नाम दिया है, जिससे उपासना का प्रकार समान रहे।

गायत्री मन्त्र का उच्चारण यदि इस रीति से किया जाय तो विशेष लाभ होगा—"ओं भूः, ओं भुवः, ओं स्वः, ओं तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ओं" मन्त्र के साथ एक बार 'ओं' शब्द आता है। इसमें चार बार अधिक आया है। केवल "ओं" शब्द द्वारा ही परमात्मा का ध्यान करना सर्व साधारण की योग्यता से बाहर है। यह क्रम उच्चाशय अभ्यासी पुरुषों के लिये ही है, परन्तु उपर्युक्त मन्त्र जप के अधिकारी सर्व जन ही हो सकते हैं। पवित्र होकर प्रेम से शनैः शनैः इस मन्त्र को १०० बार उच्चारण करने में २० मिनट लगते हैं। यदि निश्चय से किया जावे तो यह कर्म उत्तरोत्तर चित्त की प्रसन्नता का कारण बनता जावेगा। "ओं" के उच्चारण में परमेश्वर के नामों का ग्रहण होता है। एक बार मन्त्र उच्चारण में ४५ नामों और १०० बार के उच्चारण में ४५०० परमात्मा के नामों का आपके मुख से उच्चारण होगा। २० मिनट में इस निज कर्त्तव्य का पालन करके विद्यार्थी विद्यालय में पढ़े, न्यायाधीश न्यायालय में न्याय करें, व्यापारी शुद्ध भाव से व्यापार, कृषक अपने क्षेत्रों का सुधार करें। स्त्रियाँ गृह-कार्यों में सदैव तत्पर, गृह को शुद्ध स्वच्छ करने में अग्रसर

भोजन बनाने में उनको अच्छा ज्ञान हो, बालकों की शिक्षा में उनका पूरा ध्यान हो, व्यर्थ झगड़ों का परित्याग, स्वयं कार्य करने में अनुराग हो। परन्तु उपर्युक्त नित्य कर्म करने के पश्चात् ही हो। गायत्री मन्त्र का अर्थ ऋषि ने पंचमहायज्ञविधि में लिख दिया है वहाँ ही देखना चाहिए।
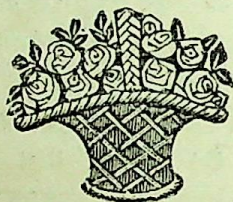
इति नामगति:

स्वाध्याय के लिये उत्तम पुस्तकें

१—उपदेश मञ्जरी=महर्षि दयानन्द सरस्वती के गम्भीर विषयों पर, आर्य सिद्धान्तों से ओत प्रोत महत्त्व पूर्ण १५ व्याख्यान। भूमिका लेखक अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्दजी महाराज, ऋषि दयानन्द जी कृत जितने भी ग्रन्थ हैं उनसे पहले इस ग्रन्थ को पढ़ने से दूसरे ग्रन्थों को समझने में सुविधा रहेगी। कागज, छपाई चित्र अति सुन्दर मूल्य केवल १) रु०

२—स्वाध्याय-संग्रह=लेखक स्वामी वेदानन्द जी तीर्थ। इस पुस्तक में स्वामी जी ने चुने हुये वेद मन्त्रों की सरल सुबोध व्याख्या की है उपदेशकों या प्रचारकों के लिये बड़े काम की पुस्तक है इस पुस्तक की सहायता से प्रवचन एवं उपदेश या व्याख्यान दे सकते हैं, इस पुस्तक के तैयार करने में श्री स्वामी जी ने विशेष परिश्रम व समय लगाया है, स्वाध्याय के लि[illegible] इतनी अच्छी शायद ही कोई पुस्तक छपी हो, प्रत्येक आर्य नरनारी को यह ग्रन्थ डायरी की [illegible] हर [illegible] अपने पास रखना चाहिये। मूल्य सजिल्द २) रु०

आर्य प्रकाशन मंडल, देहली

सार्वदेशिक प्रेस पाटौदी हाउस, दरियागंज देहली नं० ७